अध्याय अष्टम

सत्यवती

(सरसी छंद)

कभी राजमहिषी थी कुरू की शान्तनु की थी प्राण ।
आज जूझती शून्य सदन में मिले व्यथा से त्रारण ।
पाकर शीघ्र सभी कुछ खोया कूरर नियति का चक्र ।
निष्ठुर क्यों हो गए विधाता दृष्टि हुई क्यों वक्र ।1

वधू युग्म को पाकर मैं थी कितनी हुई प्रसन्न ।
मुनि प्राधा[1] ही मानो आऱ्इं यहां रूप संपन्न ।
असी[2] और वरूणा ही आईं मानो धरकर रूप ।
राजमहल था नंदनकानन जैसा परम अनूप ।2

वे भी पाकर रूप राशि में ज्यों अश्विनी कुमार ।
मेरे सुत को देख मोद था उनके हृदय अपार ।
अंबा अंबालिका उभय थी तरूणाई आदर्श ।
रूप शील गुण और मधुरता का मनोज्ञ उत्कर्ष ।3

वैभव रूप शक्ति परिरक्षण पाकर कौन मनुष्य ।
चढ़ती वय का रह पाता है जग में यहां अदुष्य[3] ।
रूप और यौवन मद गर्वित हुआ विशेष विचित्र[4] ।
आयत भोग श्रृंखला ही बस परिणय बना पवित्र ।4

छोटा था वह अत: मुझे था उस पर स्नेह विशेष ।
और न भूली थी चित्रांगद देहांतर[5] का क्लेष ।
आज्ञाकारी रहा सदा वह सुंदर और विनीत ।
मुझसे होता नहीं कोप भी उसके प्रति अभिनीत ।5

किंतु देखती थी जब संतत भोगार्णव में मग्न ।
होने लगता था विषाद युत मेरा अंतर[6] भग्न ।
सदा चाहती बने विक्रमी ज्ञानी भीष्म समान ।
बने चक्रवर्ती पाए वह सकलभूपगण मान ।6

1. मुनि व प्राधा दक्ष प्रजापति की कन्याएं थी.
2. असी और वरूणा काषी में नदियाँ है।
3. न दूषित होने योग्य
4. विचित्र वीर्य 5. मृत्यु 6. हृदय

किंतु विषय ऊपर से लगते जितने ही मधुसिक्त ।
उतना ही वे नर को करते बल विक्रम से रिक्त ।
पामर जन अवबोध्य[1] न होती ज्यों कवि की वक्रोक्ति ।
पुत्र कथ्य[2] मन वचन रह गए बनकर मात्र कथोक्ति ॥7॥

फिर वह हुआ कल्पना भी थी जिसकी नहीं कदापि ।
मर्मांतक कृंतक था यक्ष्मा प्रकटा ज्यों वातापि[3] ।
भेषजविद[4] असफल थे सारे किए भूयष:[5] यत्न ।
रही अनुत्तरवती प्रार्थना खोया मैंने रत्न ॥8॥

जो होते थे अज्ञ तनय को अति मधुमय प्रतिभात[6] ।
विषफल देकर गए अंतत: संवत्सर[7] वे सात ।
कुरूकुल का वह भानु हो गया धीरे धीरे अस्त ।
और निराशा रात्रि छा गयी ग्रसकर सौख्य समस्त ॥9॥

जब भी हूं देखती वधू द्वय कमलानन वे म्लान ।
उर मेरा होता है तत्क्षण संतापित हो ग्लान ।
दो दो युवती विधवाओं को धरे राज प्रासाद ।
विवश देखता था मानो वह विधि का घोर प्रमाद ॥10॥

सत्यवती के स्वप्न आज थे खंडित और विकीर्ण ।
देख दैन्य दुख विवश जननि के उर होता था दीर्ण ॥
उद्धतता ले गयी एक सुत और अपर को रोग ।
वहां युयुत्सा[8] की परिणति थी यहां स्रोत था भोग ॥11॥

दवा नहीं पायी थी चिरतक निज आगस[9] का बोध ।
कहती थी अन्याय पिताकृत यह लेता प्रतिशोध ॥
बहुत दूर तक फैंका भावी के जल में निज जाल ।
उन्हें लगा श्रीमीन पकड़ लूं आया अच्छा काल ॥12॥

1. समझ में आने योग्य	4. वैद्य	7. वर्ष
2. कहने योग्य	5. बहुत बार	8. युद्ध की इच्छा
3. एक राक्षस जो व्यक्ति का पेट फाड़कर प्रकट हो जाता था ।		
6. प्रतीत	9. पाप	

देख रहे थे भावी पीढ़ी का किरीटयुत[1] भाल ।
चिर सौभाग्य अटलता की थे रहे दुराशा पाल ॥
भाग्य अष्व को दिखलाता नर निज ईहित[2] गंतव्य[3] ।
सुकर[4] मोह वश उसे मानते नियमन के मंतव्य ॥13॥

नहीं जनक यह कालिंदी[5] का है चिर परिचित पाट ।
यह गभीर सावर्त[6] कालनद बहे सवेग विराट ॥
इसकी गति है गहन चलाना यहां कामना नाव ।
दुष्कर है उपहसितमनुजउद्यम[7] यह बली बहाव ॥14॥

करता ध्वस्त अध: कर्तित कर यह विस्तीर्ण कगार ।
कठिन शिला को भी न सहय है अविरत[8] उग्र प्रहार ॥
जिसके महिषीपदहित छीना गंगासुत अधिकार ।
उत्प्लावित[9] नदमध्य नाव सम खाती वीचि[10] प्रहार ॥15॥

निगल गया यह मम हीरकद्वय अब हूं असुत अनाथ ।
देवोपम है वही देवव्रत आज दे रहा साथ ॥
नियति छीनती नित्य लिप्सु[11] से कितना करो प्रयास ।
यह अनीह[12] की सतत् सेविका होता यह आभास ॥16॥

धर्मषील कामार्त नृपति की उत्कण्ठा का लाभ ।
लिया आज परिणति तो देखो जीवन हुआ निराभ[13] ॥
मत्स्य गंध से हुई सुरभियुत ऋषि का मिला प्रसाद ।
लिप्सागंधा हुई अंतत: पाया घन अवसाद ॥17॥

जिसमें हो दुर्गंध स्वार्थ की प्रणय नहीं वह पाप ।
जो आसक्ति मात्र परिचालित वह जीवन अभिशाप ॥
कर सकते थे मुझे हस्तगत बलपूर्वक कुरूराज ।
पर पौरव ने रखी आर्य सम मर्यादा की लाज ॥18॥

1. मुकुट युक्त	5. यमुना	9. उतराती हुई
2. वांछित	6. भंवर सहित	10. तरंग
3. लक्ष्य	7. मनुष्य के प्रयासों का उपहास	
4. सरलकरने वाला	11. लोभी	12. निष्काम
8. लगातार	13. कांति हीन	

राजहंस के पैर बांधकर रोकी मुक्त उड़ान ।
जनक आचरण किया स्वार्थवश तुमने वधिक समान ॥
आसनस्थ भी यहां अकृतधी[1] करता आत्म विनाश ।
चिर परिरक्षण भी न सुनिश्चित करता सुदृढ़ विकास ॥19॥

सत्यवती से अधिक जान सकता है सच यह कौन ।
कौन वेदना विषम सतत् सहकर रह सकता मौन ॥
पर साक्षी हैं ईश जानते मेरे उर के भाव ।
नहीं देवव्रत प्रति कोई भी रहा कुभाव दुराव ॥20॥

बेटा संरक्षक कुरूनायक यश ध्वज योगी वीर ।
रहा सदाप्रिय औरस[2] सुत सा यदि न पिलाया क्षीर ॥
कभी लगाती थी पथिकों को मैं सरिता के पार ।
अब पतवार हीन नौका सी सहती उर्मि प्रहार ॥21॥

कैवर्तक[3] कन्या से महिषी बनी हुई मैं धन्य ।
भाग्य संपदा मुझसे बढ़कर क्या रख सकता अन्य ॥
पर फिर धीरे-धीरे मुझको अनुभव हुआ विशेष ।
मेरी स्वच्छंदता चपलता थी अब विगत अशेष ॥22॥

अब मुखरित होने से पहले शब्दों की थी तौल ।
हास्य दिखाना पड़ता चाहे रूधिर रहा हो खौल ॥
मैं भी हूं संस्कृत यह करना था हर क्षण ही सिद्ध ।
आभिजात्य आचार और उपचारों से प्रतिवद्ध ॥23॥

क्रमश: थी अनुरक्त दासियां जो पहले थी भीत ।
मैंने पटु दाक्षिण्य[4] दिखाकर लिया हृदय को जीत ॥
किन्तु प्रकट होता था मन मैं जब तब विषम विचार ।
क्या कृत्रिमता का छाया है नहीं अभेद्य विकार ॥24॥

1. मूढ़	3. केवट , मल्लाह
2. कुक्षि से उत्पन्न	4. उदारता

पहले पथिकों को करती थी मैं अपगा के पार ।
आज वासना में नरपति को डुबा रही हर बार ॥
पहले देती दिशा नाव को प्रबल बीचियों बीच ।
दिशा हीन करती भूपति को उत्कट एषा[1] सींच ॥25॥

क्रमश: जाता उतर वासना का अवार्य[2] भी ज्वार ।
कुछ वर्षों में ही शान्तनु थे अपचितकामविकार[3] ॥
तनु प्रति आकर्षण जब क्रमश: तनुतर[4] हुआ विशेष ।
वर्धित था अपराध बोध अति गहन मानसिक क्लेश ॥26॥

जब भी पड़ती दृष्टि देवव्रत पर झुकता था शीश ।
पुरूवत बेटा भीष्म बना मैं अपर ययाति महीष ॥
लौटाया यौवन अंगज को पर मैं कहां समर्थ ।
बना दिया मैंने सुत जीवन मरूवत विरस अनर्थ ॥27॥

मैं भी जब देखती भीष्म को होता गुरू परिताप ।
वंचित परम पात्र को करके आई बन अभिशाप ॥
यद्यपि उठती अब भी मेरे वपु से मादक गंध ।
अब अतीत की बात वासना से उसका संबंध ॥28॥

मैं विवाह के बाद हो गई मन से प्रौढ़ सवेग ।
निष्चल सहज विमुक्त वृत्ति थी विगत शमित[5] आवेग ॥
यह मानस प्रौढ़ता झलकने लगी देह पर मंद ।
नहीं आयु से जिसका कोई था दृढ़ तर संबंध ॥29॥

मुझको लगा यही है मेरे जीवन हित अनुकूल ।
वार्धक्योन्मुख नर की तरूणी जाया[6] है भव शूल ॥
कुरू जनपद रक्षा हित प्रतिश्रुत तुम हो चिर से तात ।
इसकी सेवा में रत रहते सुत अखिन्न दिन रात ॥30॥

1. कामना , इच्छा	4. न्यूनतर
2. न रोका जा सकने वाला	5. शान्त
3. घटा हुआ	6. पत्नी

आज नहीं है अनुज तुम्हारे किया महान प्रयाण[1] ।
मैं हूं छाया मात्र देह यह प्राय: है निष्प्राण ॥
श्वेताम्बर धारिणी काशिनृप दुहिताओं को देख ।
नहीं सहन कर पाता मम उर पीड़ा का अतिरेक[2] ॥31॥

जहां गीत गूंजते कभी था अमल गूंजता हास्य ।
जहां वाद्य श्रुति सुखद मनोरम दर्शित होता लास्य ॥
वहां तारस्वर[3] में पीड़ा ही गूंजी पूरे वर्ष ।
फिर सिसकियां उष्ण नि:स्वार्षे वेधा[4] विमुख अमर्श[5] ॥32॥

फिर छायी जो भीति दायिनी अति दुरूह सी शांति ।
उससे लौटी क्षांति तिरोहित हुई सदा को कांति ॥
मौन खड़ा है विगत विहंगम[6] स्वर विवर्ण प्रासाद ।
अधिप बना है यहां अमंगलकारी घन अवसाद ॥33॥

नहीं सह्य है मुझे शुष्क हो कुरू अन्वय[7] जलधार ।
सर्जन हो अभिभूत[8] प्रथित[9] हो यहां मृत्यु व्यापार ॥
अब बस आस लगी है तुम पर करना नहीं निराश ।
हर सकते हो तिमिर दूर कर सकते हो संत्राष ॥34॥

दिया पिता को वचन निभाया भी तुमने भरपूर ।
केवल अपने प्रति ही पुत्रक रहे सदा तुम क्रूर ॥
अब जब है न वंश में कोई करो याद वह बात ।
वचन दिया था कुरू रक्षा का तुमने ही तो तात ॥35॥

विनय सुनों माता की परिणयमे हो जाओ वद्ध ।
ताकि वंश यह चले नहीं है यह कुछ नीति विरूद्ध ॥
सिंहासन भोग ने नहीं जब संतति रही सजीव ।
प्रतिश्रुति[10] की वाध्यता वहीं पर होती है निर्जीव ॥36॥

1. मृत्यु	4.ब्रह्मा	7. वंश	10. प्रतिज्ञा
2. आधिक्य	5.क्रोध	8. पराभूत	
3. उच्चस्वर	6. पक्षी	9. विस्तृत	

आज तात होते तो रखते स्वत: यही प्रस्ताव ।
देख वंष आपदा तिरोहित होते स्वार्थी भाव ॥
निज जननी गंगावत माना तुमने मुझको अंब ।
मेरे भी तुम रहे कष्ट मोचन दुख में अवलंब ॥37॥

इस धीवर कन्या ने पाया है जितना सम्मान ।
नहीं अन्य बाला पा सकती है मुझको अभिमान ॥
नहीं टालते वचन कभी तुम इस प्रतीति[1] के साथ ।
अनुनय[2] में कर रही पकड़ लो तुम नृप कन्या हाथ ॥38॥

हैं दिवस्थ[3] जो आर्य पुत्र वे भी पाएं संतोष ।
तुम्हें देखकर सुखी घटेगा उनका निज प्रति रोष ॥
प्रत्यावर्तनशील[4] नहीं ज्यों सुरसरि दिव्य प्रवाह ।
मुझको भी आजीवन करना मात्र वचन निर्वाह ॥39॥

लोभ मोह या कामानुग[5] हो करूं स्वप्रण यदि भग्न ।
होंगे आत्म देव ये मेरे अघकर्दम[6] में मग्न ॥
चक्रवतियों का भी होता जननि एक ही अन्त ।
भोग तृषा की भी अषम्यता[7] मोहावरण दुरन्त ॥40॥

लगते जो आपात[8] रम्य वे विषय सदा विष युक्त ।
नहीं भोगता मनुज स्वयं वह होता विषय प्रभुक्त ॥
नहीं मात्र ये शास्त्र वचन या हैं कोरे सिद्धांत ।
देखी मैंने निज कुल में ही यह नाटिका दुखान्त ।41॥

नहीं अपरिचित या कि इतर[9] जन जिस रूपक के पात्र ।
स्वयं पिता भ्राता हैं खोए सूखा दुख से गात्र ॥
जानबूझ कर कैसे पालूं माता मैं भव रोग ।
जिसकी परिणति मात्र दाह दुख तृष्णा और वियोग ॥42॥

1. विश्वास	2. प्रार्थना	3. स्वर्ग में स्थित
4. लौटाए जाने वाला	5. कामना के पीछे चलने वाला	
6. पाप के कीचड़ में	7. शान्त न होने वाली	
8. प्रथम दृष्टि में, ऊपर से देखने में		9. अन्य , दूसरे

कुरू जनपद क्या वस्तु, स्वर्ग का भी मिलता हो राज्य ।
प्रण हैं मेरे प्राण नहीं हो सकते कभी विभाज्य ॥
कुछ पल धारित मौन पुन: बोली कंपित स्वर क्षीण ।
निज किल्विश[1] गोपन[2] मैं होती तरूणी परम प्रवीण ॥43॥

कुरू कुल रक्षण हेतु बचा है अंतिम एक उपाय ।
अब भी टल सकता विलोप भय कटु आसन्न अपाय[3] ॥
धर्म शास्त्र अनुमत है अन्वय रक्षक तात नियोग ।
इस विधान का हमें बाध्य हो करना है विनियोग ॥44॥

हुए अवाक् देवव्रत देखा सत्यवती की ओर ।
मुझसे संभव कहां आचरण ऐसा निंदित घोर ॥
एक तुम्हारे ही आग्रह से किया हरण का पाप ।
पाया प्रतिषोधाग्नि समुत्थित[4] अंबा से अभिशाप ॥45॥

अनुज वधूद्वय दुहिता वत है उनको बस आशीष ।
मैं दे सकता जननि रहें मुझ पर कृपालु वे ईष ॥
बोली पुत्र देवव्रत तेरा मन है भव्य निकेत[5] ।
सुन मेरे अघघोर न करना इससे तुम अनिकेत ॥46॥

खोल रही हूं आज विवश मैं उर का कक्ष निगूढ़[6] ।
जब थी मैं चपला अति बाला यौवन था अप्ररूढ[7] ॥
होते थे सब मुग्ध देखकर मेरा अनुपम रूप ।
लोचन कांति विशिष्ट मधुर थी वाणी परम अनूप ॥47॥

किन्तु दुखी था हृदय देह से उठती थी झशगंध[8] ।
उससे सारी दीप्ति गुणों की पड़ जाती थी मंद ॥
तटिनी के तितीर्षु ऋषि को ले चली डोलती नाव ।
मुझे देखकर जान गए वे छिपा वेदना भाव ॥48॥

1. पाप	4. उदित	7. अविकसित
2. छिपाना	5. घर	8. मछली की गंध
3. हानि	6. गुप्त	

बोले क्या मैं हर सकता हूं बाले तेरा खेद ।
बता त्वरित तू अपना मुझको गहन निराशा भेद ॥
झेल रही हूं ऋषे नियति का निष्ठुर अति उपहास ।
उठती रहती सदा देह से तीक्ष्ण मत्स्य की वास ॥49॥

कुसुम अनेक रचे संसृति ने सुरभित या निर्गंध ।
नहीं विगंधित रचे रची क्यों मैं ऐसी मतिमंद ॥
बोले ऋषि यदि करो समर्पण रूप राशि नित नव्य ।
शाश्वत निर्झर हो जाओगी परिमल की तुम भव्य ॥50॥

मैंने कुछ संकोच साथ फिर किया समर्पण पूर्ण ।
ऋषि प्रसाद सत्यता प्रकट थी नौका में ही तूर्ण ॥
योजन गंधा बनी मत्स्य गंधा थी अब तक हेय ।
रति समान मैं बनी भूमि पर सुर सुन्दरी अजेय ॥51॥

पर था नहीं अमिश्रित सुख ही ऋषि का वह उपकार ।
गए पराशर अनपेक्षित दे मुझे गर्भ का भार ॥
फिर एकान्त द्वीप में जन्मा जो शिशु परम अनूप ।
वही आज कृष्णद्वैपायन व्यास ज्ञान के रूप ॥52॥

सोचा था कानीन[1] पुत्र को सदा रखूंगी गुप्त ।
मारा सकल ममत्व भावना को कर दिया प्रसुप्त ॥
किन्तु आज यह अवसर आया प्रकटित हुआ रहस्य ।
करना क्षमा तुच्छ इस नारी को तुम पुत्र अवष्य ॥53॥

तुम यदि चाहो उसे बुला लूं सध जाए यह कार्य ।
यदि विधि चाहे तो नियोग इस विधि होगा व्यवहार्य ॥
कुछ क्षण मौन रहे गंगासुत फिर होकर गंभीर ।
कहने लगे हुआ शुभ जननी ढही भेद प्राचीर ॥54॥

मत अवसाद भरो कुछ मन में मुझको है यह मान्य ।
आऐं पावन करें सौध को वे ज्ञानार्क वदान्य[2] ॥
भूतल पर हैं वे पाराशर भृगुवत ऋषिगण ज्येष्ठ ।
वेद व्यास वेदान्त निदर्षक ब्रह्मसूत्रकृत श्रेष्ठ ॥55॥

ऋषितेजोमय हो कुरू संतति यह श्रेयस्कर भाव।
विधि वांछित लगता कुरूजन का भावी विपुल प्रभाव॥56॥

1. कन्या से उत्पन्न	2. कुशल वक्ता